THE ECONOMIC TIMES

Date: 31-03-18

Make not Aadhaar an instance of contempt

ET Editorials

Contradictions are of the essence in dialectics, but no good in government policy. After telling the Supreme Court that the last date for linking income-tax payers' Permanent Account Number (PAN) with their Unique Identity number, Aadhaar, is being extended from March 31to end-June, the government has failed to follow through with action to modify the software for filing income-tax returns. Those who have not yet applied for Aadhaar — many are waiting to see if the Supreme Court concurs with the government's demand to link every possible public attribute of a citizen to Aadhaar — cannot file their income-tax returns for 2015-16 or 2016-17, the last date for which is March 31. The e-filing site will not accept returns from those who do not have Aadhaar or at least the enrolment number. This contradiction is unfair and unwarranted.

People with PAN should be welcomed to the taxman's parlour, not shunted out for not having one more document of identity. Yes, the government thinks that linking PAN to Aadhaar would eliminate a lot of duplicate PANs and bring more transparency to incomes. But whether this should be mandatory or not has been challenged in the courts. The country's apex court is seized of the question and will deliver its considered opinion soon. The decent thing to do is to wait for the court's verdict to make Aadhaar mandatory for collecting tax from willing taxpayers.

If the mismatch between state submission to the Supreme Court and state action on the ground comes from self-righteousness on Aadhaar, that borders on contempt of court. If, on the other hand, it stems from dysfunctionality, it should quickly be excised. In either case, the government does not quite cover itself with glory. Aadhaar should be mandated three months after the court validates a mandatory Aadhaar.

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 31-03-18

निराधार भय

टी. एन. नाइनन

क्या दक्षिण भारत कुछ ज्यादा ही विरोध प्रदर्शन करता है? दक्षिण भारत के राज्यों के मुख्यमंत्री और मंत्री एकजुट होकर हालिया वित्त आयोग की शर्तों के खिलाफ विरोध प्रदर्शन करने जा रहे हैं। वित्त आयोग हर पांच साल में ऐसी अनुशंसा

देता है कि केंद्रीय कर राजस्व का कितना हिस्सा राज्यों के साथ साझा किया जाना चाहिए और प्रत्येक राज्य की कितनी हिस्सेदारी होनी चाहिए? नए आयोग से कहा गया है कि वह अपना निर्णय 2011 की जनगणना को ध्यान में रखकर ले सकता है। जबकि इससे पहले तमाम आयोग की रिपोर्ट सन 1971 की जनगणना पर आधारित थी। पिछले आयोग ने सन 1971 और 2011 दोनों जनगणनाओं को ध्यान में रखा था।

इस बदलाव से थोड़ी नाराजगी पैदा हुई है क्योंकि दक्षिण के राज्यों को तिहरे संकट की आशंका है। पहला, आबादी पर नियंत्रण में उनका रिकॉर्ड बेहतर है इसलिए अगर 2011 की जनगणना का प्रयोग किया गया तो केंद्र से मिलने वाले कर राजस्व में उनकी हिस्सेदारी प्रभावित होगी। दूसरी बात, उनको पहले ही नुकसान हो चुका है क्योंकि गरीब राज्यों पर ज्यादा ध्यान दिया जा रहा है। तीसरा, वस्तु एवं सेवा कर जो कि एक खपत कर है, वह भी अनुत्पादक यानी गरीब राज्यों को अधिक राजस्व प्रदान करेगा। एक लेखक ने तो यहां तक कह दिया कि केरल और तमिलनाडु जैसे राज्यों के लिए तो भारतीय गणराज्य के अधीन फलना-फूलना बहुत मुश्किल हो गया है।

कुछ हद तक यह जरूरी भी है। बिहार को केंद्रीय राजस्व में उसकी आबादी के हिसाब से सुनिश्चित हिस्सेदारी से एक फीसदी अधिक हिस्सा मिलता है। अगर बात देश के सबसे गरीब राज्य की हो रही हो तो इतने से कोई बहुत बड़ा फर्क नहीं पड़ता। इसके अलावा हर वित्त आयोग से कुछ राज्य लाभान्वित होते हैं तो कुछ को नुकसान होता है। 11वें और 14वें आयोग के दौरान दक्षिण के तीन राज्यों (तत्कालीन संयुक्त आंध्र प्रदेश अपवाद था) को केंद्रीय कर हिस्सेदारी में बहुत नुकसान उठाना पड़ा। लेकिन तब उत्तर और पूर्वी भारत के राज्यों उत्तर प्रदेश, एकीकृत बिहार, पश्चिम बंगाल और ओडिशा को भी नुकसान उठाना पड़ा था। पश्चिम के राज्यों महाराष्ट्र और गुजरात को इसका फायदा मिला। जाहिर है उत्तर बनाम दक्षिण के निष्कर्ष निकालने की हड़बड़ी नहीं करनी चाहिए। खासतौर पर तब जबकि आयोग से कहा गया है कि वह राजकोषीय प्रदर्शन और आबादी नियंत्रण को ध्यान में रखे।

एक आशंका यह भी है कि 2026 में जब राज्यवार लोकसभा सीटों के आवंटन की समीक्षा की जाएगी तो सन 2021 की जनगणना के आंकड़ों का इस्तेमाल होने से दक्षिण भारत के राज्यों में सीटों या लोकसभा में कुल सीटों में हिस्सेदारी में कमी आ सकती है। यह विचार भी भय फैलाने वाला है। 2014 को देखें तो अधिकांश राज्यों में प्रति 14 से 15 लाख लोगों पर एक लोकसभा सीट है। इसका राष्ट्रीय औसत 15 लाख से कुछ ज्यादा है। पूर्वोत्तर के राज्यों को छोड़ दें तो उत्तर प्रदेश जैसे राज्यों में यह 17.4 लाख और केरल में 12 लाख है।

सन 2026 में आबादी के मुताबिक सीटों का बंटवारा होने पर केरल की लोकसभा सीट 20 से घटकर 15 हो सकती हैं। इसे गलत कहा जा सकता है क्योंकि यह तो बेहतर प्रदर्शन करने वाले को दंडित करना हुआ। परंतु मौजूदा हकीकत भी ठीक नहीं है। प्रति 36 लाख मतदाताओं पर केरल को तीन सीट जबकि उत्तर प्रदेश को दो सीट दी जाती हैं। कर्नाटक में प्रति सीट मतदाता बिहार से कुछ अधिक हैं। हिमाचल प्रदेश तथा जम्मू कश्मीर में केरल के समान ही 12 लाख का आंकड़ा है। गोवा में प्रति लोकसभा सीट बमुश्किल 5 लाख का औसत है। समग्रता से देखें तो लोकसभा में प्रतिनिधित्व में कोई बड़ा बदलाव आने की आशंका कम ही है।

हिंदी प्रदेश के राज्यों का कर आधार काफी कमजोर है और वे केंद्रीय फंड पर बहुत अधिक निर्भर करते हैं। अपने कुल राजस्व के आधे या उससे अधिक के लिए उनकी निर्भरता केंद्र सरकार पर है। बिहार के मामले में यह आंकड़ा तीन चौथाई का है। जबकि इसकी तुलना में देखा जाए तो दक्षिण भारत के राज्य केंद्र पर कुल राजस्व के बमुश्किल एक

तिहाई के लिए ही निर्भर हैं। यह असंतुलन अभी भी कायम है और इसे प्रति व्यक्ति व्यय में देखा जा सकता है। बिना पर्याप्त संसाधनों के आखिर गरीब राज्य अपने लोगों के स्वास्थ्य और शिक्षा आदि में सुधार कैसे ला पाएंगे। या फिर वे आबादी पर नियंत्रण भी कैसे कर पाएंगे? इसे समझना कोई मुश्किल नहीं है।

जनसत्ता

Date: 30-03-18

डोकलाम के बाद

संपादकीय

ब्रह्मपुत्र नदी से संबंधित पनबिजली के आंकड़े भारत से साझा करने के लिए चीन का राजी होना इस बात का संकेत है कि द्विपक्षीय रिश्तों को बेहतर बनाने की भरपूर गुंजाइश है।ब्रह्मपुत्र नदी से संबंधित पनबिजली के आंकड़े भारत सेसाझा करने के लिए चीन का राजी होना इस बात का संकेत है कि द्विपक्षीय रिश्तों को बेहतर बनाने की भरपूर गुंजाइश है। ये आंकड़े भारत के लिए काफी अहमियत रखते हैं, क्योंकि इनके जरिए पूर्वोत्तर में बाढ़ के बारे में अनुमान लगाना और बाढ़ से निपटने की योजना बनाना आसान हो जाता है। अगर जल स्तर और जल प्रवाह के बारे में अद्यतन सूचनाएं बराबर मिलती रहें, तो बाढ़ नियंत्रण के प्रभावी कदम उठाए जा सकते हैं, एहतियाती उपाय भी किए जा सकते हैं। असम तो दशकों से अमूमन हर साल बाढ़ की विभीषिका झेलता आया है। कुदरत का उतार-चढ़ाव नहीं रोका जा सकता, पर सावधानी और प्रबंधन के बल पर प्रकृति का कोप कम जरूर किया जा सकता है। ब्रह्मपुत्र के जल-स्तर और प्रवाह के बारे में सूचनाएं मुहैया कराने के लिए चीन का राजी होना कोई नई बात नहीं है। वर्ष 2006 में ही दोनों देशों के बीच इस तरह का समझौता हो गया और साल-दर-साल उस पर अमल भी होता रहा। समझौता यह हुआ था कि पंद्रह मई से पंद्रह अक्टूबर तक ब्रह्मुपत्र की गति, प्रवाह और जल-स्तर संबंधी जानकारी चीन हर रोज भारत को देगा।

लेकिन पिछले साल चीन ने ये आंकड़े भारत को मुहैया नहीं कराए, यह कहते हुए आंकड़े देने वाले तिब्बत स्थित केंद्र में आधुनिकीकरण का काम जारी होने के कारण ये आंकड़े देने में वह असमर्थ है। पर तमाम कूटनीतिकों का अनुमान था कि डोकलाम-गतिरोध की वजह से चीन ने ब्रह्मपुत्र के आंकड़े भारत को देने बंद कर दिए। डोकलाम को लेकर भारत और चीन के बीच गतिरोध तिहत्तर दिनों तक चला था। गौरतलब है कि डोकलाम-गतिरोध के बाद यह पहली बार होगा जब चीन से ब्रह्मपुत्र के आंकड़े भारत को मिलेंगे। करीब बारह साल पहले हुए समझौते को जारी रखने और उस पर अमल करने का निर्णय दोनों देशों के जल संसाधन संबंधी आला अधिकारियों की बैठक में लिया गया। इस मसले पर दो दिन चली बैठक चीन के पूर्वी शहर हांगझोऊ में संपन्न हुई। उल्लेखनीय है कि चीन ने व्यापार घाटे से संबंधित भारत की शिकायत पर भी सकारात्मक संकेत दिया है। चीन के साथ भारत का व्यापार तो काफी बढ़ा है, पर चीन से होने वाले आयात के मुकाबले चीन को होने वाला भारत का निर्यात काफी कम रहा है।

वित्तवर्ष 2016-17 में चीन के साथ भारत का व्यापार घाटा 51 अरब डॉलर था, जो कि उससे पहले के साल में 52.69 अरब डॉलर था। चालू वित्तवर्ष की अप्रैल से अक्टूबर की अवधि में यानी केवल सात महीनों में चीन के साथ भारत के व्यापार घाटे का आंकड़ा 36.73 अरब डॉलर पर पहुंच गया। आपसी व्यापार के असंतुलन को दूर करने की मांग भारत ने

एक बार फिर उठाई है। इस पर चीन के वाणिज्य एवं उद्योग मंत्री जांग शन ने भरोसा दिलाया है कि भारतीय उत्पादों और सेवाओं को चीन में अधिक बाजार पहुंच उपलब्ध कराया जाएगा। इस तरह की बात चीन की ओर से पहली बार नहीं कही गई है। इसलिए स्वाभाविक ही यह सवाल उठता है कि जांग शन ने जो आश्वासन दिया है, क्या उस पर चीन संजीदगी से अमल करेगा, और क्या यह सराकात्मक रुख अन्य मामलों में भी दिखेगा?

The Indian EXPRESS
JOURNALISM OF COURAGE

Date: 30-03-18

A smart card for the farmer

Better designed Kisan Credit Card can help improve access to institutional credit and ensure crop insurance.

Amit Mohan Prasad, [The writer is an IAS officer, currently posted as principal secretary, Agriculture, Uttar Pradesh.]

Efforts are on to double the income of farmers by 2022. Access to institutional credit and crop insurance are two important steps in this direction. According to 70th round of NSSO survey (2013), 52 per cent of the farmer households were indebted, of which 60 per cent had accessed formal credit. Farmers access crop loan primarily through Kisan Credit Cards (KCC). The KCC is necessary to procure good quality inputs to raise productivity and production. Every time credit flow to farmers is reviewed, it is observed that the eastern and the north-eastern parts of the country receive proportionately less credit as compared to the western or southern parts. I have heard this at meetings of district-level bankers in 1993 when I was a chief development officer. I hear the same, in 2018, at the meetings of state-level bankers when I am principal secretary of agriculture.

Regarding crop insurance, despite the government's best intentions, it has not picked up on a scale the government would like. One of the major reasons is the apathy of bankers to deduct the premium amount from the loanee farmers' accounts in time and transfer the same to the insurer. There is another critical issue. Farmers often take a loan for some crop and sow something else. This happens because the credit limit for farmers is linked to the scale of finance of different crops. (Scale of finance is the total input cost incurred for a particular crop per hectare of land). If a farmer declares that he is going to crop sugarcane or potato, the credit limit will be high whereas if he declares that he is going to crop oilseed or cereals, the credit limit will be lower.

When banks insure a farmer, they go by his declaration at the time of making the KCC and insure accordingly. There is no attempt to verify which crop has been actually planted and there is no system of asking the farmer to fill some form for crop insurance. As a result, when a crop loss is reported, there is a dispute between the farmer and the insurance company. It is catch 22 situation. On the one hand, the banker cannot name any other crop other than declared in the KCC, for a change would cause the

invalidation of the card. On the other, on the farm there is some other crop which needs to be insured for the claims to be processed by the insurer. The result is that the farmer refuses to get his crop insured.

The third important issue is of targeting subsidies in a proper manner. We know by now that direct benefit transfer (DBT) is a unique policy tool to target subsidy, reduce wasteful expenditure and plug leakages. This has been amply demonstrated in many areas, including agricultural subsidies. The government has been trying to move in that direction slowly in the case of urea. The distribution of urea is now being done through an Aadhaar-enabled biometric identification system, but it does not distinguish between a farmer and a non-farmer. The present system does not transfer the fertiliser subsidy to the bank account of the farmer. However, DBT can address the issue of diversion of subsidised fertiliser for other uses and also cross-border diversion. When that starts, the issue of making upfront payment will come up. Since urea is a heavily subsidised item, small and marginal farmers may find it difficult to make the full payment upfront.

This can be fixed by making two changes in the KCC. The limit of a KCC can be de-linked from the scale of finance of the crop sown and be based on the area of land held by a farmer. This will result in two things. One, the farmer will not have to make a false declaration to get a higher credit limit. This will result in true declaration of the crop sown and hence, the discrepancy seen in crop insurance will be addressed. Second, it will address the issue of distorted inter-regional credit flow to farmers. With the upper limit of Rs 3 lakh for a KCC, it should be possible to provide a limit of Rs 1 lakh per hectare per annum for crop loan to the farmers at the current level of provisioning in this head by the central government. This will ensure that credit flow to farmers in backward regions increases. Increasing access to formal credit is necessary for enhancing incomes of farmers, especially the small and marginal. Farmers who cannot access institutional finance have to seek credit from informal channels, which charge them anywhere between 24 to 36 per cent per annum as interest. In contrast, those who have access to formal bank credit receive it at 7 per cent per annum, which further gets discounted to 4 per cent. Some fear the farmers may misuse the crop loan if it is not linked to the scale of finance. Such persons should do a field check about the “proper utilisation” of crop loan in its present form.

This brings me to DBT in fertiliser subsidy. My solution is the credit limit under KCC can be split into two parts. Part A can consist of 75 per cent of the credit limit and part B the remaining 25 per cent. While the farmer is allowed to withdraw the amount under part A from the ATM or any other mode, the amount under part B should not be allowed to be withdrawn as cash and used to pay the subsidy part of the input being purchased.

The farmer can pay an amount equivalent to the price being paid by him from part A or any other source in cash and the amount of subsidy from part B by swiping the card, thus paying the full price upfront. It should be technologically possible to divide the card in two parts by having different PIN numbers for them. The subsidy will be transferred through DBT to part B of the card. This will ensure better targeting and encourage digital transactions. It is high time the KCC is redesigned for better outcomes.

Date: 30-03-18

A southern discontent

Increasing alienation between the North and South in political discourse is fuelled by deep cultural anxieties

Pratap Bhanu Mehta, [The writer is vice-chancellor, Ashoka University.]

How worried should India be about the latest expressions of southern discontent? Ostensibly the terms of reference of the 15th Finance Commission has triggered of a new wave of anxiety amongst South Indian states. Two related claims undergird this anxiety. First, that giving greater weight to the 2011 census in funds allocation will penalise the southern states for better performance and second, the growing public articulation of claims that somehow a dynamic and progressive South is subsidising a laggard and reactionary North. Taken on their own, both of these claims are par for the course. Post GST, India's fiscal federalism is up for renegotiation. As Pranay Kotasthane from Takshshila Institute pointed out, the real challenge for the Finance Commission will less be the North-South disparity, but fiscal federalism and the power of the states more generally, where the balance is again tilting towards the Centre.

The second argument is worrying, not because it is an accurate description of the complex economic relationship between the North and the South. It is worrying because it reflects an increasing alienation between North and South in political discourse. When there is underlying trust, even big practical differences can be resolved. On the other hand, when distrust is growing, all facts will be magnified to fuel discontent. There is a diffuse, somewhat inchoate, sense that the politically-articulated cultural rift between the North and South is growing. It is anxieties about identity that will shape the factual narratives, not the other way round. The "South" is, of course, hardly a unified political category. And the discontent may not seem significant now. But it could snowball into something bigger if not handled with good judgment.

Renegotiations of regional identities are routine in any culturally complex society. But there is reason to think that this moment poses special risks that might provide fertile ground for exacerbating North-South divisions. First, the rise of Hindutva and the BJP's attempt at political dominance will generate its own counter pressures. There is no question that the BJP's formidable political machine has great capabilities and can expand its base even in the South. But the dominant cultural idiom of BJP politics is still identified with the politics of the BJP in the Hindi heartland: A faux Sanskritisation, combined with a lumpen-ness and a coarse patriotism. The issue is hardly Hinduism: Hinduism has never been under threat in most of India. The issue is a cultural repertoire in which the confluence of Hindutva and Nationalism is imagined, and one that is deeply unsettling. Resistance to this will take the form of greater regional assertion. You cannot raise the temperature on cultural issues nationally without everyone else catching a fever as well.

Second, southern politics has itself been stuck in a rut. Contrary to claims of southern progressivism, caste politics is perhaps even more deeply pronounced and entrenched in South. There is deep violence associated with caste all over India. But, even at the risk of generalisation, one can say that in the North, caste identities are more cynical. But in states like Tamil Nadu, despite, impressive development indicators, the grip of the cultural politics of caste is still strong and vice-like. What papered it over was the creation of subnationalism that needed its own "other", and party systems like the DMK and AIADMK that could channel caste politics in organised forms, and use that for bargaining at the national level. But just like the BJP thinks nationalism needs renewal, it is inevitable that the regions will think subnationalism needs renewal — where these go from being lightly worn facts to passionate axes of mobilisation. Even in Kerala, which probably had the strongest form of subnational identity, internal

divisions are beginning to wreck the state. So subnationalism will respond to two dynamics: Northern hegemony as a possible trope, and internal social division within these states as a possible threat. Subnationalism will be an answer to both. But more importantly, as the older party systems weaken, the temptation of new groups or older parties to cement their political place by radicalising subnationalism also grows. New leaders will carve out their identities by becoming regional icons. So the risk is that at this moment you have a national political formation which is not the most adept at managing cultural difference, and party structures in states that are more fragile. Under such conditions, a more anxiety-ridden subnationalism can be more tempting.

Third, there is the fact of political centralisation. The BJP by ideology and practice is a centralising party. No matter how much fiscal or administrative decentralisation a government attempts, if different states are locked into the same party structure the net effect will be to concentrate more power at the Centre. It is also the case that this government's penchant for thinking that India cannot be made, unless the Centre gets credit for it, is now also administrative practice. The entire gamut of practices, from monitoring district-level projects from the Centre to creating more and more central schemes, is a testament to the fact that cooperative federalism, in a centralised dominant system will always mean cooperation on the Centre's terms (this is irrespective of party). Even the fears that Finance Commission might tilt the balance more towards the Centre is borne out of this experience.

Managing federal differences was easier in coalition governments because there was a sense in which all the state did genuinely became a part of the Centre. From the late Nineties till 2009, there was also immense optimism about the broader India story. India's actual story was very messy. But a hopeful politics, with lots of institutions providing checks and balances, with genuine power-sharing, could accommodate differences. But a resentful politics will, in the long run, generate deep anxieties. The southern gauntlet is just an opening salvo.

Renegotiating balance of power and new forms of cultural identity are all routine activities in politics. But they acquire more explosive potential when this negotiation takes place under three conditions: The political existence of a project of cultural hegemony, a fluid party system at the state level, and greater state centralisation. Right now this discontent seems only fleeting. But it would be a mistake to reduce it to the mere technicalities of a Finance Commission mandate. There is more psychological and cultural anxiety fuelling it. And it would be a mistake to underestimate how quickly cultural anxieties can snowball into a potent political force, in an age marked by fragile and uncertain identities on the one hand, and mean and ungenerous leaders on the other.